को हमेशा मज़ाक में टाल देती, कहती, “मुझे तुम्हारे साथ रहना है, अमीरी-ग़रीबी से क्या फ़र्क़ पड़ता है?”
पर एक दिन अचानक स्वाति ने उसे मिलने बुलाया — आँखें रोई हुई थीं। वह बोली, “मेरी शादी की बातचीत चल रही है। अगले हफ्ते लड़के वाले देखने आ रहे हैं। मैं तुमसे अभी शादी करना चाहती हूँ — यहीं, इसी मंदिर में।”
वैभव हतप्रभ रह गया। उसने कहा, “मैं कल जवाब दूँगा...” पर अगली सुबह वह और उसका परिवार अचानक गायब हो गया।
आज बीस साल बाद ऑफिस में वैभव को देख कर स्वाति का दिल धड़क उठा। वह अब अपने पति तरुण की कंपनी में एक ब्रांच हेड थी, और वैभव एक नौकरी की तलाश में आया था।
स्वाति ने उसके इंटरव्यू का बहाना बनाकर सारी बातें जाननी चाहीं। वैभव ने संक्षेप में अपनी आपबीती सुनाई — बहन की शादी के बाद उसने दीपा नाम की लड़की से विवाह किया था। एक दुर्घटना में दीपा का मानसिक संतुलन बिगड़ गया और अब वह शहर के मानसिक अस्पताल में है।
वह बोला, “मैं जानता हूँ तुम मेरी मदद करना चाहोगी, पर मैं अपनी योग्यता से ही नौकरी चाहता हूँ। साथ ही, मैं चाहता हूँ कि तुम अपने पति को सब कुछ बता दो — ताकि मेरी वजह से तुम्हारे जीवन में कोई अशांति न आए।”
स्वाति हँस दी — “तुम आज भी वही वैभव हो।” और वैभव भी मुस्कुरा दिया। फिर दोनों ने मिलकर ज़िंदगी के उन टेढ़े-मेढ़े रास्तों को पार किया, जो कभी उनके बीच दीवार बन गए थे।
कुछ वर्षों बाद वैभव की पत्नी दीपा ठीक हो गई। जीवन अब सामान्य हो चला था।

- जे0 पी0 नारायण भारती C/o – अमित कुमार सिंह
सुरेश कॉलोनी , रविंद्र चौक (मातृमंदिर अपार्टमेंट के सामने) ,
हजारीबाग ,झारखंड, पिन –825301

कविता -
ख़्वाबों का दरीचा

ख़्वाबों का दरीचा खुला आज फिर,
धूप झाँक रही थी, अधूरी हँसी के बीच से।
माथे पर समय का पसीना चमक रहा था,
और मन – जैसे टूटी खपरैल के नीचे बैठा बच्चा।

कहाँ गए वो सपने —
जो मैंने खेत की मेड़ों पर बोए थे?
हरियाली आई तो सही,
पर कटाई किसी और ने कर ली।

मैंने शहर में नौकरी ढूँढी,
तो ख़्वाबों ने मुझसे पूछा —
"किसानी छोड़ आए हो क्या?
अब ज़मीन की गंध भूल गए हो क्या?"

सच कहूँ तो,
अब ख़्वाब भी थक गए हैं मेरे साथ चलकर।
वो कहते हैं —
"तेरे सपनों की उम्र अब सरकारी फ़ाइलों में फँसी है।"

मैं हँस पड़ता हूँ —
बिलकुल बाबा 'शशि' की तरह,
एक करुण हँसी,
जो आँसू के पहले ठहर जाती है।

कभी सोचता हूँ,
ये ख़्वाबों का दरीचा बंद कर दूँ,
पर फिर भीतर कोई कहता है —
"अरे मूर्ख!
इसी से तो तेरे भीतर अभी आदमी ज़िंदा है!"

तो आज फिर मैंने
उस दरीचे को खोला है धीरे से —
हवा आई,
थोड़ा धूल उड़ी,
थोड़ी उम्मीद भी।

और मैंने देखा —
मेरी माँ की आँखों में,
मेरे बेटे की मुस्कान में,
अब भी थोड़ा-सा सपना बाकी है...
थोड़ा-सा जीवन भी।

- शशि धर कुमार